आयुर्वेद में दार्शनिक तत्व

लेखक—

विद्यावाचस्पति प्रोफेसर

पण्डित देवराजजी

प्रकाशक—

वैद्य बांकेलाल गुप्त

सम्पादक धन्वन्तरि

श्रीधन्वन्तरये नमः

आयुर्वेद में .... दार्शनिक तत्व

लेखक—
श्रीमान् पं० देवराज जी विद्या वाचस्पति
विश्व विद्यालय गुरुकुल काङ्गड़ी

प्रकाशक—
वैद्य भास्कर बांकेलाल गुप्त सम्पादक धन्वन्तरि
श्रीधन्वन्तरि औषधालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

प्रथमबार } सन् १९२७ { मूल्य ।)
५०० प्रति }

धन्वन्तरि प्रेस विजयगढ़ में मुद्रित

भूमिका

वर्तमान आयुर्वेदीय हिन्दी साहित्य में वैज्ञानिक और दार्शनिक पुस्तकों का नितांत अभाव है तथा वैद्यों को और वैद्यक पाठशालाओं के अध्यापकों का ऐसे साहित्य के पढ़ने और पढ़ाने का ध्यान भी नहीं है ऐसी अवस्था में गुरुकुल कांगड़ी के साहित्य परिषद् ने अपने अधिवेशन में आयुर्वेद में दार्शनिक तत्व विषय चुन वैद्य समाज एवं आयुर्वेदीय साहित्य का बड़ा उपकार किया है। यह निबंध पं० देवराज जी विद्या वाचस्पति द्वारा गुरुकुलीय साहित्य परिषद् में पढ़ा गया और उपस्थित जनता द्वारा प्रशंसित हुआ तथा धन्वन्तरि में क्रमश प्रकाशित हुआ और पाठकों ने बड़ा पसन्द किया इस से ही उत्साहित होकर हमने इसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया है आशा है कि पाठक इसे अपना लेखक के श्रम को सफल करेंगे।

—प्रकाशक

विषय सूची

आयुर्वेद मे दार्शनिक तत्व की

आवश्यकता

ह ऐसा विषय है कि जिसकी ओर हमारे सुयोग्य वैद्यों को विशेष ध्यान देना चाहिए। इस विषय को बिलकुल उपेक्षा की दृष्टि से देखा जारहा है। बहुत से वैद्यों का यही मन्तव्य है कि आयुर्वेद प्राचीन चिकित्सा पद्धति (Ancient syestum of medicine) है। चिकित्सा के लिए दार्शनिक तत्वकी आवश्यकता नहीं है अतः आयुर्वेदका दार्शनिक तत्व सेकोई सम्बन्ध नहीं है। विभिन्न रोगों में बारम्बार प्रयोग करके चिरकाल से निश्चित [illegible] औषधों से

रोगियों की चिकित्सा हो ही जाती है फिर दार्श-
निक तत्व का आयुर्वेद से कोई संबन्ध हो भी तो
भी अब इस विचार की कुछ आवश्यकता नहीं है।
इस प्रकार का विचार थोड़ा नहीं किंतु अत्यधिक
मात्रा में नवीन वैद्योंमें फेल रहा है और वे अनुभूत
प्रयोगों से अपना कार्य चला रहे हैं। इन वैद्यों का
प्रयत्न आयुर्वेदका आश्रय लेकर अपनी आजीविका
मात्र सिद्ध करना है। इस प्रकार के वैद्यों से आयु-
र्वेद रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। किसी भी
विज्ञान के आधार में कुछ स्थिर सृष्टि नियम होते
हैं। यदि विज्ञान वेत्ता उन सृष्टि नियमों को भुला
दें वा उनकी ओर ध्यान देना छोड़दें और उननियमों
के आधार पर सिद्ध किये हुए प्रयोगों सेही अपना
व्यावहारिक कार्य चलाने लगें तो आप निश्चय जानि
ये कि वह विज्ञान उन्नति तो होगा ही नहीं स्थिर

भी नहीं रहेगा और उसकी मृत्यु होजावेगी । जो विद्वान् नियमों को जानकर उनका नाना विधि प्रयोग करना जानते हैं वे वैज्ञानिक होते हैं विज्ञान की उन्नति कर सकते हैं। जो बने बन ये यन्त्रों से कार्य लेना मात्र जानतेहैं वे वैज्ञानिक नहीं कहलाते अमेरिका का एडिसन आज कल के संसारमें एक महान् वैज्ञानिक है। वह भौतिक विज्ञान के सूक्ष्म नियमों को जानता है उसने शब्द के नियमों के आधार पर ग्रामोफोन यन्त्र का आविष्कार किया। अन्य लोग जो ग्रामोफोन यन्त्र को बेचते हैं वा उस यंत्र से गीत सुनकर मनो बिनोद करते हैं, अपने मानसिक कष्ट को दूर करते हैं वे वैज्ञानिक नहीं कहलाते। रेलगाड़ी के एञ्जिन का आविष्कार क जिसने डेगची में खौलते हुए पानी की भाप से उछलते हुए ढक्कन को देखकर जलकी भाप के वग

के नियम को जान कर एंजिन का अविष्कार किया वह वैज्ञानिक था । अन्य लोग जो इञ्जिन चलाते हैं या उसे सुधारते हैं और भाप के बल के नियम को जानते हैं वे विज्ञानिक नहीं कहलाते, वे तो अपनी आजीविका के लिए वृत्ति करते हैं । यदि विज्ञान क्षेत्र में अविष्कार करने वाले क्षेत्र के भौतिक नियमों का पता लगाकर उनका उपयोग दिखाने वाले तत्ववेत्ता वैज्ञानिक मंद होजावें तो स्पष्ट है कि संसार की गति मंद हो जावेगी। समय २ के अनुसार मनुष्यों की आवश्यकताओं के अनुकूल सृष्टि के भौतिक नियमों का प्रकाश जब बन्द हो जावेगा तो आप समझ सकते हैं कि अज्ञानान्धकार में प्रगति नहीं होसकेगी। ठीक इसी प्रकार हमारे आयुर्वेद विज्ञान की दशा है । प्राचीन ऋषि मुनियों ने आयुर्वेद के वैज्ञानिक स्वरूप का

प्रकाश करनेके लिए इसके दार्शनिकतत्व का आवि-
ष्कार कियाथा। यदि वे चरक सुश्रुत आदि ग्रन्थोंमें
दार्शनिकतत्व का आविष्कार नकरते तो आज आयु०
का जो कुछ महत्व प्रकटहै वह उसके दार्शनिकतत्व
के आधार परही है। जैसे भौतिक विज्ञान सम्बन्धी
नियमों का आविष्कार करके विद्वान पुरुष जगत् में
वैज्ञानिक कहाते हैं, इसीप्रकार आयुर्वेदके दार्शनिक
तत्वको आधार में रख कर जो विद्वान् द्रव्य गुण
विज्ञान, रोग परीक्षा चिकित्सा और स्वास्थ्य रक्षा
केनियमोंका आविष्कार करतेहैं वे आयुर्वेदज्ञ कहला
सकते हैं जो भिन्न २ रोगों की चिकित्सा के लिए
निर्धारितद्रव्योंका प्रयोग करतेहैं या उन्हें बेचते हैंवे
आयुर्वेदज्ञ कहलाने के अधिकारी नहीं हैं वे द्रव्य
विक्रेता या आयुर्वेदोपजीवी हैं। आजकल आयुर्वेद
में वर्तमान दार्शनिक तत्व की ओर से वैद्यों का

ध्यान हटता जारहा है। द्रव्यविक्रेता तथा प्रयोग निर्माता का कार्य्य सम्हाल कर वैद्य अपनी आजीविका चलाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगे है। जैसे आविष्कारक वैज्ञानिकोंके अभावसे विज्ञान की गति रुद्ध होजाती है इसी प्रकार आयुर्वेद के दार्शनिक तत्व मे गति रखने वाले विद्वानों के अभावसे आयुर्वेद की गति रुद्ध हो रही है और रुद्ध हो जावेगी। इस समय दार्शनिक तत्व की ओर से वैद्यों की दृष्टि हटजाने से विदेशीय चिकित्सा पद्धति के अनुसर्त्ता विदेशीय तथा एतद्देशीय जन आयुर्वेद के देह पर इस प्रकार आक्रमण कर रहे हैं जैसे किसी प्राणि के देह पर रोग के आगंतु कारण रोग को उत्पन्न करके दोषों को कुपित कर देते हैं और पश्चात् शरीर को व्याधि का घर बना देते हैं। आयुर्वेद पर आक्रमण करने वालों को

आक्रमण करने की हिम्मत इस लिये हुई है क्योंकि आयुर्वेदकी आत्मा(इसके दार्शनिक तत्व)कीपूजा न करके हमने उसे निर्बल करदिया है। यदि आयुर्वेद के महत्व पर अभिमान रखने वाले आयुर्वेद शास्त्री आयुर्वेदकोचिकित्सा करके इसे फिर उज्वल करना चाहते हैं तो उनका कर्तव्यहै कि आयुर्वेदकी आत्मा (इसके दार्शनिक तत्व) को उज्वल करें। जब आयुर्वेद की आत्मशक्ति प्रबल होगी तो इसकी दुर्बलता वा क्षीणता को प्रकट करने वाला क्षयरोग मूलतः नष्ट होजावेगा अन्यथा ऊपर की चुपड़ा चुपड़ी से वा रोग चिकित्सा में आयुर्वेद का उद्धार न होगा। अतः यदि वैद्यों को आयुर्वेदकी उन्नति अभीष्टहै तो इसके दार्शनिक तत्वको विशद करने की ओर विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

आयुर्वेद का दार्शनिक तत्व से सम्बन्ध—इसमें किसी को सन्देह नहीं कि रोगों की चिकित्सा के लिये आज कल जितनी उत्सुकता दिखाई जाती है उसके अनुसार रोगों की चिकित्सा कुछ भी दिखाई नहीं देती। चिकित्सक रोगी मिलकर चिकित्सालयों में चिकित्सा का खेल खेलते हैं। रोग को दूर करने के लिये चिकित्सकों को आपस में व रोगियों के साथ शर्तें बंध जाती हैं और चिकित्सा आरम्भ हो जाती है। रोगी जब जीविकोपार्जन में रोग के आविर्भाव होने से बाधा होने के कारण कहते हैं कि 'वैद्यजी? ऐसी दवाई दीजिये कि देतेही आराम होजाय और कल में काम पर चला जाऊं" बस? यदि एक दो दिन में रोग को वैद्यजी ने नहीं पछाड़ दिया तो वैद्यजी स्वयं पछड़े हुए व अनभिज्ञ समझे जाते हैं

समय के प्रभाव के कारण रोगियों में अधीरता की मात्रा इतनी अधिक बढ़गई है कि रोगी अपने को रोगमुक्त करना नहीं चाहते किंतु अपनी मनोभिलाषा का यथा तथा पूर्ण करने के लिये सामर्थ्य चाहते हैं।

दार्शनिक तत्व की अवहेलना करने से रोगी और उनके चिकित्सक यह भी भूल गये हैं कि रोग की स्थिति कहां है। यूनान देश के तत्ववेत्ता अफलातून या प्लेटोने सिर दर्द के किसी रोगी का वर्णन किया है जिसके विषय में सुकरात ने निश्चय किया कि चूंकि किसी भी रोग की जड़ आत्मा में होती है अतः जब तक आत्मा का इलाज न किया जायगा तब तक रोग दूर नहीं होसकता सुकरात ने कितना अच्छा विचार उपस्थित किया है। जैसा सूक्ष्मशरीर व आत्मा होगा वैसा ही स्थू-

ल शरीर अपनारूपधारण करेगा। सूक्ष्मशरीरमेंजिस प्रकार की विकृति उपस्थित होगी स्थूल शरीर में उसका प्रति बिम्ब शीघ्रही भासमान होगा। सूक्ष्म शरीर जैसे २ अविकृत, स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा वैसे २ स्थूल शरीरभी स्वस्थ्य और प्रसन्न बनेगा इस लिए यदि कोई रोगी पूर्ण स्वस्थ होकर परमानन्द की प्राप्ति चाहता है तो उसे अपने आत्मा को पवित्र करने में प्रयत्न करना चाहिये।

हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने रोगों के स्वाभाविक और नैमित्तिक भेद बता कर जरा और मृत्यु को भी स्वभाविक रोग माना है। और उनकी चिकित्सा के लिए विचित्र प्रयोगों का आविष्कार किया है। जरा और मृत्यु का सम्भव भी दोषों की विषमता के विना नहीं है अतः रोग के लक्षणानुसार (रोगस्तु दोषवैशम्यं दोषसाम्यमरोगता)

जरा और मृत्यु की भी परिगणना की गई है। यथा-

स्वभाविकाः(व्याधयः) क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्रा प्रभृतयः

सु.सू० अ०१,५५

यदि विशेष साधनों से दोषों की विषमता को हटाते हुए दोषों की समता बना रक्खी जाय तो जरा और मृत्यु को भी जीत लेना असम्भव नहीं यद्यपि कठिन अवश्य है।

जरा और मृत्यु को दूर करने के साधन ब्रह्मचर्य्यादि और रसायन औषध बताए हैं। यथाः

"रसायनं हि तत्प्रोक्तं यज्जराव्याधिनाशनम्",

इस लक्षण के अनुसार रसायन भेषज केवल जरा का ही नाश नहीं करती अपितु व्याधि को भी हरती हैं। रसायन भेषजों का प्रभाव तीव्र और चिरस्थायी होने के कारण रोगियों और चिकित्स

कों की दृष्टि रसों पर विशेष आकृष्ट है। चरक मुनिके अनुसार रसायन भेषज रसासृगादि धातुओं में उचित परिणाम (Metabolism) को रखने के लिए प्रयुक्त होती हैं। यथाः—

"लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्"

च०चि०अ०१

जो रसायन औषधि आयुवर्द्धक हैं जरा रोग भी नाशक हैं वे उन्हीं लोगों के लिये लाभ कर होती हैं जिन्होंने अपने मन और शरीरों को शुद्ध कर लिया है। जिन्होंने शरीर और मानस दोष दूर नहीं किया उन्हें रसायन से कोई फल नहीं मिलता। कहा है—:

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषान् शारीर मानसान्।
रसायन गुणैर्जन्तु र्युज्यते न कदाचन॥

योगाद्यायुः प्रकर्षार्था जरारोग निवर्हणाः ।
मनुश्शरीर शुद्धानां सिद्ध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥

इसलिये जो हतात्मा पुरुष हैं अर्थात् जिन्हों ने मनआदि इन्द्रियों को विषय सेवा में रत हुए वे काम करते हैं जो आयु को क्षीण करने वाले हैं, शरीर दोषों को विकृत करके रोग पैदा करने वाले हैं ऐसे पुरुषों को रसायन तन्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिए और जिन्हें सुनने की आकांक्षा नहीं पैदा हुई उन्हें भी उपदेश नहीं करना चाहिए। कहा है—:

नैतत्तन्न भवेद्‌ग्राह्यं सर्वमेव हतात्मने ।
अरुजेभ्यो द्विजातिभ्यः शुश्रूषायेपुनास्ति च ॥
च० चि० अ० १

चरकाचार्य बतलाते हैं कि किन गुणों से

युक्त मनुष्य को रसायन सेवन से लाभ होता है यथा —

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् ।
अहिंसकमनायासम्प्रशांतं प्रियवादिनम् ॥
याज्यशौच परं धीरं दाननित्यं तपास्विनम् ।
देवगोब्राह्मणा चार्य गुरुवृद्धार्चने रतम् ॥
आनृशंस्यपरान्नित्यं नित्यं करुणावेदिनम् ।
समजागरणां स्वप्न नित्यं क्षीर घृताशिनम् ॥
देशकाळ प्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम् ।
शस्ताचारमसांकीर्ण पध्यात्मप्रवणान्द्रियम् ॥
उपासितारं वृद्धाना मास्तिकानां जितात्मनाम् ।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नंर नित्य रसायनम् ॥
गुणैरतैःसमुदितैःप्रयुङ्क्तें यो सारयनम् ॥
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् ससमश्नुते॥

आज कल संसार चक्र उलटा चलरहा है। जिस मनुष्य में ये उपर्युक्त गुण विद्यमान हैं उसे रसायन सेवन की आवश्यकता नहीं समझी जाती यदि ऐसा मनुष्य रसायन सेवन करे तो लोक में निन्दित समझा जाता है। जो मनुष्य रसायन सेवन करने के सर्वथा अयोग्य है, जिनमें उपर्युक्त गुण विद्यमान नहीं हैं जो कामी क्रोधी, लोभीमोही और व्यसनी हैं वे रसायनों के पीछे पड़े हुए अधिक२ संसार में अनाचार फैला रहे हैं।। रसायन सेवन करके बूढ़े भी जवान बनने की कोशिश कर रहे हैं, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके नहीं अपितु अधिक २ ब्रह्मचर्य व्रत का नाश करने के लिये ऋषि दयानन्द यदि कभी रसायन तन्त्रोक्त भेषज का सेवन करते थे तो यह जानकर कामी जन हंसते हैं कि ब्रह्मचारी दयानन्द को रसायन सेवन

करने की क्या आवश्यकता थी। चरकाचार्य उपर्युक्त कैसे उत्तम शब्दों में कह गये हैं कि रसायन का अधिकार ब्रह्मचारी के लिये है, कामी भोगी व्यसनी के लिये नहीं।

जिसने अपने मानस दोषों की चिकित्सा नहीं की उसके शारीर रोगोंकी चिकित्सा उत्तमोत्तम भेषजों से भी नहीं होसकती। मनके द्वारा इन्द्रियों और शरीर की प्रवृत्ति है। यदि मन रजस् तमस् दोषों करके विकृत होगा तो इन्द्रियां और शरीर के कर्म भी यथावत् नहीं रह सकते। मनकी दुष्प्रवृत्ति से, शरीर को धारण करने वाले वात पित्त श्लेष्मा धातु दुष्ट होकर शरीर में रोग पैदा कर देते हैं। मनकी चिकित्सा को उपेक्षा करके यथाकथञ्चित् शारीर दोषों को यथावस्थित किया भी जाय तो भी रोग का पुनः प्रादुर्भाव होजाता

है, क्योंकि रोग की जड़ केवल शरीर में नहीं अपितु मनमें है। चरकाचार्य व्याधियों का आश्रय शरीर और मन दोनों को बतलाते हैं। यथा—:

शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधी नामाश्रयोमत:।

प्रत्येक जीव व्याधियों की निवृत्ति के लिये यत्न कर रहा है, क्योंकि व्याधियोंके कारण दुःख अनुभव होता है और प्रत्येक प्राणी में दुःख से छूटने की और सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा है, जो प्राणी दुःखोत्पादक साधन में लगे हुए हैं वे भी चाहते सुख ही हैं परन्तु अज्ञान से दुःख प्राप्ति के साधनों को सुख प्राप्ति का साधन समझ कर उन साधनों में लगे हुए हैं, इसीकारण सुख कीअभिलाषा करते हुए भी दुःख भोग रहे हैं शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं है मनके ही आधीन है। शरीर और इन्द्रियों की प्रवृ-

त्ति को ठीक रखने के लिये मनोवृत्ति को ठीक रख ना उचित है। शरीर इन्द्री और मन का सम्बन्ध उस सवारी के साथ अच्छा जचता है जिसमें सवारी का मालिक अपनी इच्छा के अनुसार गाड़ी हांकने वाले सारथी को आज्ञा देता है और वह सारथी उसकी आज्ञानुसार लगाम कस कर घोड़ों को काबू मे रखता हुआ गाड़ी को ठीक रास्ते पर चलाता है और बिना कष्ट के गाड़ीके मालक रथी को उसकी मंजिल पर पहुंचा देता है। इस शरीर रथ में इन्द्रियां रूपी घोड़े लगे हुए हैं बुद्धि सारथी ने मनकी लगाम कस कर घोड़ों को काबू किया हुआ है। मालिक आत्मा की आज्ञा के अनुसार बुद्धि, इन्द्रिय घोड़ो को हांकना और शरीर की गाड़ी को विषयों की सड़क पर लेजा रहा है। इस गाड़ी में सवार हुआ आत्मा मंजलि पर पहुंच कर

अपने उद्देश्य को सफल करता है। उपनिषद् में कहा है—,

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिंतु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच॥
इन्द्रियाणि हयाना दुर्विषयां स्तेषु गोचरान्।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि घोड़े और गाड़ी में यदि कोई नुकस उनकी बनावट व उनके कार्य में हो तो किसी पशु चिकित्सक व मिस्त्री को मिला कर उनका दोष दूर किया जाता है। यदि घोड़ों को काबू करने वाली लगाम की रस्सियां कच्ची हों-ठीक खींचती नहीं, इन रस्सियों के दोष के कारण घोड़े ठका गमते हों और गाड़ी बिगड़ती होतो लगामकी रस्सियां सुधारनेसे घोड़े और गाड़ी की चाल अवश्य स्वस्थ होजायगी सुधर जायगी इस अवस्था में घोड़ागाड़ीकी कितनीभी मरम्मत

कीजिये काम नहीं चलेगा। इसके अतिरिक्त यदि सारथी की समझ ही खराब हो वह शराब पीता होतो भी घोड़े और गाड़ी ठीक नहीं चलेंगे। सारथी के विना इलाज किये केवल घोड़ा गाड़ी की ठोकने पीटने से कुछ न बनेगा। यदि मालिक के संस्कार ही खराब हों. उसका उद्देश्य ह ठीक नहो जहां वह पहुंचना चाहता है वहां सड़क हीं रही टूटी फूटी है तो उस सड़क पर उसकी गाड़ी टूट फूट जायगी घोड़े भी खींचते २ मृत या मृत प्रायः हो जांयगे और उसका मालिक अपने लक्ष्य पर न पहुंच सकेगा। दुख भोगते २ कालान्तर में यदि उसके संस्कार प्रयत्न विशेष से बदल गये तो वह अपना लक्ष्य बदल लेगा और उत्तम गाड़ी उपार्जन करके लक्ष्य पर पहुंचाने योग्य उचित सामग्री के साथ गाड़ी में सवार होकर अपने

लक्ष्य को सिद्ध करेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में शरीर और इन्द्रियों के रोग रोगों के कारण और उनकी चिकित्सा के साथ २ मानसिक रोग उनके कारण और उनकी चिकित्सा बुद्धि विचार (शक्ति) के दोष दोषों की उत्पत्ति के कारण और दोषों को दूर करके सद्‌बुद्धि प्राप्ति का और कुसंस्कार उनकी उत्पत्ति का कारण और दूर करने का उपाय तथा सुसंस्कारों की प्राप्ति का भी वर्णन् किया जाय। उपर्युक्त दृष्टांत के अनुसार यह भी इस शास्त्र में बताना चाहिये कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है और उसलक्ष्य प्राप्ति के क्या साधन हैं। जैसे उपर्युक्त दृष्टान्त में गाड़ी का मालिक लक्ष्य की ओर चलते २ घोड़ा गाड़ी वा उस के उपकरण के नष्ट होजाने से उसके स्थान में नया प्राप्त करके

अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है वा अपनी उस अन्तिम अभिलाषा को पूरा करता है जिसके परे उसकी कोई अभिलाषा रह नहीं जाती इसप्रकार आत्मा एक जन्म में अपनीअभिलाषा को न पूरा करके नये शरीरको धारण करता वा पुनर्जन्म लेता है। इस प्रकार पुनर्जन्म का प्रश्न भी आयुर्वेद के साथ सम्बद्ध है। ऐसे२अनेक प्रश्नोंके निर्णयके लिये निर्णय करने का प्रकार प्रमाण प्रमेयादिका निरूपण भी आवश्यक है। यह ठीक है कि एकएक विषय के यथार्थ निरूपण के लिये बड़ा विस्तार चाहिये और एक एक पृथक ग्रन्थ चाहिये परन्तु उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि आयुर्वेद का अध्यात्म वा दार्शनिक तत्व से गहरा सम्बन्ध है और बिना इस दार्शनिक तत्व के निरूपण किये आयुर्वेद ग्रन्थ अपूर्ण है। अतः आयुर्वेद सम्बन्धी सर्व विषयों

के आवश्यक अंशों के संग्रह को दिखानेवाले किसी आयुर्वेद ग्रन्थ में दार्शनिक तत्व का भी आवश्यक अंश अवश्य समाविष्ट होना चाहिये। इतनाही नहीं किन्तु ऋतुओं के परिवर्तन से मनुष्य के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है और इस काल प्रभाव में किस प्रकार स्वास्थ्य ठीक रक्खा जा सकता है इस के लिये काल निरूपण काल प्रभाव और स्वास्थ्य रक्षा के उपायों का वर्णन भी आयुर्वेद में होना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष विषय के निरूपण की उतनी आवश्यकता नहीं हुआ करती जितनी अप्रत्यक्षविषय के निरूपणकी होती है तोभी कालनिरूपण पर भी चरकादि प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार मालूम हुआ कि आयुर्वेद का दार्शनिक तत्वसे गहरा संबन्ध है और आयुर्वेद में दार्शनिक तत्व का समावेश अत्यन्त सङ्गत है। *

वात पित्त श्लेष्मा का दार्शनिक तत्व से सम्बन्ध

वात पित्त श्लेष्मा जब अपनी उचित मात्रा में नहीं रहते तब इन को त्रिदोष कहते हैं। तब ये दुष्ट या विकृत हुए शरीरकी धातुओं के कार्य और उनकी रचनाको विकृत करदेते हैं। दोषों को विषमता के कारण विकृत हुई धातुओं से शरीर में रोग का आविर्भाव होता है। दोषों की समता के कारण सम हुई धातुओंसे शरीरमें नीरोगताका आविर्भाव होता है। जब त्रिदोष सम होते हैं तो देह के उपचय का हेतु है औरजब विषम होते हैं तो अपचय का हेतु होते हैं। उपचयसे वृद्धि और अपचयसे क्षय वानाश होता है। जरा और मृत्यु शरीर कीधातुओं के अप-चय के द्योतक हैं। धातुओं का अपचय त्रिदोष की विषमता को सूचित करता है। अतः त्रिदोष की विषमता से ही जरा और मृत्यु का आगमन होता है। त्रिदोष की समता रखने से जरा का अपनयन

और दीर्घ जीवन की प्राप्ति अवश्यम्भावी है । जब वात पित्त श्लेष्मा सम अवस्था में होते हैं तब इन का नाम त्रिदोष नहीं होता तब इन्हें त्रिधातु कहते हैं । ये त्रिधातु देह के उपचय का सूचक हैं । शरीर को स्वस्थ रखना और रोग निवृत करना इसका अर्थ केवल इतनाही है कि शरीरमें वात पित्तश्लेष्मा को सम रखना शरीर में वात पित्त श्लेष्मा को सम रखने से देह की वृद्धि होतीहै । शरीर में जो भी अन्न पान डाला जाता है और शरीर से व्यायाम भ्रमणादि के द्वारा शरीर की क्रियाओं को ठीक रखने के लिये जो विहार किया जाता है वह शरीर की किसी कमी को पूरा करने के लिये किया जाता है । यदि अन्न पान ग्रहण न किया जाय और अन्न पान को जीर्ण करने के लिये तथा शरीर मेंयथा स्थान पहुंचाने के लिये विहार का भी सर्वथा परित्याग कियाजाय तोभी शरीर यथा वस्थित नहीं

रहना क्षीण होने लगता है। इससे प्रकट है कि शरीर में स्वभाव से अर्थात् सृष्टि नियम से ह्रास होरहा है। उस ह्रास को पूरा करने के लिए अन्नपान का ग्रहण करना आवश्यक होता है। यह अन्नपान एकही रूप में और एक ही मात्रा में प्रत्येक के लिये हित कर नहीं होता क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का शरीर उसके अपने प्राक जन्म के कर्मों से भिन्नहै और भिन्न प्रकार की अनुकूलता रखता है। (Mateorology) कालशास्त्र और ज्योतिःशास्त्र के नियमों से काल चक्र छः ऋतुओं में विभक्त है। ये छ ऋतुएं परस्पर सर्वथा विभिन्न प्रजापति (सम्वत्सरो वै प्रजापतिः) के विभिन्न रूपों को प्रकट करती हैं। प्रजापति के विभिन्न रूपों के प्रदर्शक छः ऋतुओं में वर्तमान भौतिक द्रव्य हैं। ये भौतिक द्रव्य जिस २ ऋतु में उत्पन्न होते हैं और जिस २ ऋतु में अपनी स्थिति रखते हैं उस २ ऋतु में उस २

ऋतु के गुणों को धारण करते हैं । ऋतुओं का द्रव्यों पर प्रभाव स्वाभाविक है क्योंकि ऋतु सूर्य के गिर्द पृथ्वी के घूमने से स्वाभाविक रीति पर प्रकट होरही हैं । इस सम्वत्सर प्रजापति के शरीरमें चय और क्षयका चक्र वर्तमान है। चूंकि सृष्टिका प्रत्येक भौतिक द्रव्य प्रजापतिके शरीरमें विद्यमान है। और उसका अंश है इसलिये सृष्टिके प्रत्येक भौतिक द्रव्य में चय और क्षयका चक्र स्वभाविकहै। भौतिकद्रव्यों में परिवर्तन, बिना पृथिव्यादिभूतों में परिवर्तन हुए, नहीं हो सकता अतः यह मानना ठीक है कि ऋतु परिवर्तनही भौतिक परिवर्तनका भी आधार है।ऋतु परिवर्तन और भौतिक परिवर्तनमें घनिष्ठ सम्बन्धहै

-४०- वसन्त ऋतु में शक्ति पूर्णरूप से विकासोन्मुख होती है। रसउद्भिजों के अन्दर भरजाते हैं, परन्तु प्रकट रूपमें नहीं होते फिर ग्रीष्म में शक्ति अधिक वृद्धि में होती है और रस प्रकट रूप में आते

हैं। इनके बाद प्रतिक्रिया होने से अर्थात् शक्ति के आगे पीछे गति करते हुए चलने से वर्षा ऋतु में उस प्रकट हुए रस से ही उसको गतिके रुकने से रस अनेक रूप में बड़ी मात्रा में प्रकट होते हैं। विकाश सिद्धान्तके अनुसार शक्तिका ह्रास और द्रव्य मात्रा का संघटन होता जाता है। शरद्ऋतु में वह रस अपनी पक्वावस्था को पहुंचता है। पश्चात् हेमंत ऋतु में प्रसुप्त सत्ता फिर अन्दर से जागृत होने लगती है और द्रव्य का संघटन टूटने लगता है। शिशिर ऋतु में शक्ति बढ़ती २ सारे द्रव्यको अन्तर्हित करती है और उसके अन्तर्हित होते २ स्वयं भी शांति होजाती है इसका फल यह होता है कि वसंत ऋतु में पूर्ण होकर विकाशोन्मुख होजाती है इस प्रकार यह सम्वत्सर चक्र सदा वर्तमान रहता है इस चक्रमें वसन्त पृथिवी रूप है ग्रीष्म तेज रूप वर्षा जलरूप 'शरद्वायुरूप हेमंत आकाश रूप

(विकास की अन्तिम अवस्था] और शिशिर भी आकाश रूप (विकाश की आदिम अवस्था) है।

शिशिर वसंत ग्रीष्म इन में शक्ति की अनुलोम गति होती है अतः यह उत्तरायण काल है और वर्षा शरद्, हेमंत इन में शक्तिकी प्रतिलोम गति होती है अतः यह दक्षिणायन काल है ।पहलीतीन ऋतुओं में द्रव्य का विकास है और दूसरीतीन में अन्तर्लय है भौतिक द्रव्य हमारे शरीर में प्रविष्ट हुए काल के अनुसार शरीर में उस परिवर्तन को उत्पन्न करते हैं जो ऋतु चक्र में हो रहा है ।ऋतु चक्र में चढा हुआ हमारा शरीर ऋतु चक्र के परिवर्तन को साक्षात् भी ग्रहण करता है। शरीर में साक्षात् और परम्परया होने वाले परिवर्तन शरीर और द्रव्यों की प्रकृति भेद से शरीर मे समान सुख दुःख उत्पन्न नहीं करते ।

शरीर और भौतिक द्रव्यों की प्रकृति पञ्च

भूत हैं । ऋतुओं में परिवर्तन पाञ्चभौतिक हैं । अतएव सुखकर और दुःख कर अवस्था या स्वस्थता और रोग का निदान पाञ्च भौतिक परिवर्तन में ही ढूंढना होता है और व्याधि चिकित्सा के लिये उपयुक्त पाञ्चभौतिक परिवर्तन युक्त द्रव्य का आश्रय लेना पड़ता है अथवा ऐसे अनेक द्रव्यों की योजना की जाती है जिनका फल उपयुक्त पाञ्च भौतिक परिवर्तन होना है । इससे स्पष्ट है निदान चिकित्सा और द्रव्य गुण विज्ञान का आधार पाञ्चभौतिक विज्ञान है । ये पञ्चभूत आकाश वायु तेज जल और पृथ्वी हैं। इनमें वायु के पूर्व सूक्ष्म अवस्था आकाश है और जल के पश्चात् घन अवस्था पृथ्वी की है आकाश और पृथ्वी का अर्थात् द्रव्यों की अति सूक्ष्म और अति स्थूल अवस्था का विचार वायु और जल के साथ ही करके यदि पञ्चभूतों को तीन में विभाग किया

जाय तो वायु, तेज और जल विभाग होगा। पदार्थ विद्या का सिद्धांत है —

द्रव्य अपनी स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था में आते हुए अपने में अधिक ताप को अकर्ष करते हैं, और सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में जाते हुए अधिक ताप छोड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो द्रव्य पाञ्चभौतिक क्रम में जितना स्थूल है उसमें तेज उतना ही कम है और जो द्रव्य पाञ्च भौतिक क्रम में जितना सूक्ष्म है उसमें तेज उतना ही अधिक है। यह सिद्धांत सिद्ध हो सकता है यदि पतित जल की तुल्य राशि (Distille water या पाञ्चभौतिक रङ्गों की भिन्न भिन्न बोतलों में नियत समय तक सूर्य्य ताप से तप्त किया जायतो पिलानेसे काले रङ्ग की बोतल का जल सब अन्यों से अधिक कफ को द्रवित करेगा

यह तो स्पष्ट है कि वायु गति कर्मा है, तेज दीपक है और जल शीतल है। आकाश और वायु के द्रावक या गति कर्मक धर्म को लक्ष्य में रखकर कि दोनों का निर्देश वात शब्द से किया है और जलपृथ्वी के शीतल कर्मक और सांघातिक धर्म को ध्यान में रखकर श्लेष्मा शब्द से निर्देश किया है तेज का धर्म दीपन व प्रकाशन है। यह वायु और जल की अवस्थाओं का मध्यमवर्ती पदार्थ है। इस में गति का अवरोध होने से ताप और प्रकाशन का प्रादुर्भाव होता है। तेज के तपन और दीपन धर्म को लेकर पित्त शब्द दिया है।

इस प्रकार वात पित्त और श्लेष्मा गति ताप और संघात के द्योतक हैं, शरीर और भौतिक द्रव्यों में निदान और चिकित्सा के निमित्त पंच-भूतों को ही निर्देश करते हुए स्वीकार किये गये हैं।

———o———

वात, पित्त, श्लेष्मा के गुणों पर दार्शनिक विचार

त के गुण चरक मुनि ने "रूक्षः शीतो लघुःसूक्ष्मश्चलोऽथविशदः खरः ।" इस प्रकार लिखे हैं । "वायुःगति कर्मा" प्रवर्तकश्चेष्टा नाम्" वायुका काम गति करना है यह चेष्टाओं का प्रवर्तक है । शरीर में जहां २ चेष्टा होती हैं वहाँ २ तंतुओं (Tissues)में संकोच (Contraction) होता है तंतुओं में बिना संकोच हुए गति नहीं हो सकती शरीर में अनेक चेष्टायें होरही हैं । यथा—श्वास लेना छोड़ना, हृदय का धड़कना, रक्तवाहिनियों (धमनि और शिरा) में रुधिर घूमना, अन्न का ग्रहण पचन, मल त्याग, ग्रंथियों (Glands) से उपयुक्त रसों (Fluids) का अंतः बहिः स्राव (Internal and external Secrative) धातु का-

धात्वन्तर में परिवर्तन, इंद्रियों के विषयों का ग्रहण, मन का इंद्रियविशेष से लगना और हटना, विषय का चिंतन इत्यादि। ये सब कर्म वात के द्वारा तंतुओंमें संकोच उत्पन्नसे होते हैं। शीतकाल में वा शीत वस्तु के सेवन से तंतुओं में संकोच उत्पन्न होता है अथवा वातका कर्म आरम्भ होजाता है। जब सकोच तंतुओं में सकोच की हीन मात्रा को पूरा करके उचित मात्रा म करदेता है तब भी आनन्द होता है, और जब उचित मात्रा से अधिक काल तक और अधिक परिमाण तक सकोच रहता है तो वायु की वृद्धि कही जाती है और जब अति मात्रा में हुआ सङ्कोच शरीर वा मानस विकारों को उत्पन्न करने लगता है तब वात कुपित कहा जाता है। कुपित हुआ वात आनन्द के स्थान में दुःख उत्पन्न करता है। सङ्कोच के कारण श्लैष्मिक और पैत्तिक ग्रंथियां अपने २ द्रव्यों को फेंकने लगती हैं

यह द्रव तन्तुओं की सङ्कोच परम्परा से स्थानांतर में चलाआता है। यदि आवश्यकता के अनुकूल उनद्रव्यों का प्रक्षेप हुआ है। तो वे द्रव शरीर में लगजाते हैं और यदि बिना आवश्यकता के उनका प्रक्षेप हुआ है तो वे द्रव अपना २ विकार उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार ठीक कहा है कि पित्त और श्लेष्मा स्वयं कहीं शरीर में नहीं जा सकते वायु उनको मेघ के समान इधर उधर लेजाता है और वे उस २ स्थान में मेघ के समान जाते और अपना काम करते हैं। कहा है—

पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवोमलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गर्जन्ति गच्छन्ति मेघवत्

जो पदार्थ वायु और आकाश तत्त्व प्रधान हैं वे विपाक कालमें अधिक शक्तिका प्रकाश करते हैं या त्वचा के मार्गसे यदि उनका अञ्जन किया जाय तो वे भौतिक क्रम में पार्थिव अवस्था की ओर

परिवर्तित होते हुए अपने घटक द्रव्यों से भिन्न २ प्रकार के समास बनाते हुए विशेष शक्ति उत्पन्न करते हैं। इस शक्ति से जमी हुई श्लेष्मा पिघल जाती है, अवरुद्ध हुए स्रोत खुलजाते हैं।

तैजस और जल तत्व प्रधान द्रव्य परिणामांतर को प्राप्त हुए उतना शक्ति का प्रकाश नहीं कर सकते क्योंकि उनका जन्म स्वभाव ही ऐसा है और इसी विचार से श्लेष्मोत्पादक द्रव्य शक्ति संचार के स्थान में स्थिरता और मंदता को लाने वाले होने चाहिए, क्योंकि उनमें जल और पृथ्वी तत्व प्रधान होते हैं। अतः श्लेष्मा के विलयन के लिये शिथिल अङ्गों को क्रिया शील (Active) अवस्था में लाने के लिये वायु तत्व प्रधान द्रव्य जितने उपयोगी हैं उनसे कम तैजस् हैं और जल तथा पार्थिव तत्व प्रधान द्रव्य उपयोगी नहीं हैं वा अतिन्यून उपयोगी हैं जो अभीष्ट फलकी दृष्टि से

ग्रहण नहीं किये जासकते। इसीलिये कास तथा श्वास में श्लेष्मा के द्रावण के लिये और हृदय में फुफ्फुस को बल देने के लिये भी वासा का विशेष उपयोग है। वासा आकाश और वायु तत्व प्रधान द्रव्य है। कपूर श्वास रोग में श्लेष्मा के द्रावण के लिए उपयोगी है। कपूर द्रव्य आकाश तथा वायु प्रधान है।

वात प्रधान द्रव्य शीत कहते हैं। वात की शीतता में और जलकी शीतता में भेद है। दार्शनिकों ने जल को शीत, तेज को उष्ण और वायुको योगवाहि माना है। जल के साथ मिलने से शीत और तेज के साथ मिलने से उष्णस्पर्श वाला होता है। कहा है—

"अनुष्ण शीत स्पर्शवान् वायुः

आयुर्वेद की परिभाषा में यूं कहसकते हैं कि वात श्लेष्मा से युक्त होकर शीत और पित्त के

स्राव युक्त होकर उष्ण होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है वायु के गुण वर्णन करते हुए वायु का गुण शीत बताया है। ऐसा लिखना अवैज्ञानिक या दार्शनिक विचार से शून्य नहीं है। दर्शन का "अनुष्णाशीत स्पर्शवान् वायुः" लिखना और आयुर्वेद का "शीत गुणवान् वायुः" लिखना परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। वायु तंतुओं (Tissues) में सङ्कोच (Contraction) द्वारा गति उत्पन्न करता है। यदि यह सङ्कोच उचित काल और उचित मात्रा से अधिक काल और अधिक मात्रा में बढ़जावे तो श्लैष्मिक और पैत्तिक ग्रंथियों से स्रावहोना बन्द हो जावेगा। पैत्तिक ग्रन्थियोंसे स्राव बन्द होजाने से पित्त श्लेष्मा का पाक करके शरीर में जो उष्णता उत्पन्न करता था वह न होनेसे शरीर में शैत्य अनुभव होगा। इस शैत्य का अनुभव जलतत्व का प्रयोग नहीं है किंतु वायु के

कारण पित्त के कार्यका शांत होजाता है। जिस प्रकार जल अपनी युक्ति से अग्नि को शांत करके शैत्य का अनुभव करता है इसी प्रकार वायु भी अपनी युक्ति से अग्नि को शांत करके शैत्य का अनुभव कराता है। इस प्रकार के प्रभाव को देख कर ही आयुर्वेद में वायु को शीत गुण वाला कहा है, वस्तुतः वायु स्वयं जलके समान शीत और तेज के समान उष्ण नहीं है। जहां वायु अपने कर्म में अति करने से शीत प्रभाव को उत्पन्न करती है, वहां उसके प्रभाव को दूर करने के लिए उष्णोपचार से ऊष्मा पहुंचा कर संकोच के विरुद्ध तन्तुओं में प्रभाव उत्पन्न किया जाता है इस ऊष्मा से जब सङ्कोच अपनी उचित मात्रा में होजाता है तो तंतु अपना उचित कार्य करने लगते हैं। वात के प्रभाव से जैसे पित्त ग्रंथियों के अति सङ्कोच से शैत्य उत्पन्न होता है इसी प्रकार

श्लेष्म ग्रंथियों के अति सङ्कोच से श्लेष्म स्राव बन्द होजाने के कारण रूक्षता उत्पन्न होती है। इसी कारण वायु को रूक्ष कहा है। अङ्गों में स्नेह को उत्पन्न करने वाला श्लेष्म है। क्योंकि श्लेष्मिक द्रव्य जल पृथिवी तत्व प्रधान होने से आर्द्रता सम्पादन करें अतः श्लेष्मा के कार्य के रुक जाने से स्निग्धता नहीं रहेगी रूखेपन के साथ कठोरता या खरता आजावेगी। वायु खरता का उत्पादक है अतः वायु को खर कहा है। अवयवों को जोड़ना मिलाना पृथिवी तत्व का कार्य्य है अतएव जल पृथिवी तत्व प्रधान श्लैष्मिक द्रव्य का कार्य्य रुक जाने से अवयवों का संघटन नहीं रह सकता, उन में विशदता आजायगी। यह विशद गुण आकाश तत्व का है जो पदार्थ आकाश और वायु तत्व प्रधान होगा उस में विशद करने का गुण भी अवश्य होगा। इस विशदता के सम्पा

दम करने से शरीर श्लैष्मिक द्रव्य के द्वारा होने वाला पृथिवी तत्व का प्रभाव (स्थूलता) दूर हो कर शरीर में सूक्ष्मता आजायगी और सूक्ष्मता होने से शरीर में लघुता (हलका पन) प्रकट होगा इस प्रकार वात के प्रभावों को देखकर स्पष्ट है कि आकाश वायु तत्व प्रधान द्रव्य जिन्हें वातिक द्रव्य कहते हैं अवश्य ही रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विषद् और खर गुण वाला होना चाहिये।

पित्त का लक्षण इस प्रकार किया है:—

पित्तं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥

पित्त उष्ण है तेज व अग्नि तत्व प्रधान है ताप और प्रकाश व चमक उत्पन्न करता है तेजस तत्व का कर्म (Espareion) फैलाना है। पृथिवी तत्व के (Epaersion) विस्तार में और तेजस तत्व के विस्तार में भेद है। तेजस्तत्व

(Volume) आयतन को बढ़ाता है और पृथिवी तत्व (Mass) द्रव्य राशि में अधिक २ द्रव्य राशि को स बद्ध कर के द्रव्य राशि को बढ़ाता है। तेजस्तत्व से द्रव्य के अवयवों में विरलता आती है और पृथिवी तत्व से द्रव्य के अवयवों में घनता आती है। इसी लिये तेजस्तत्व प्रधान पैत्तिक द्रव्य का प्रभाव पृथिवी तत्व प्रधान श्लैष्मिक द्रव्य के प्रभाव से विभिन्न और विपरीत पड़ता है।

पदार्थ विद्या का सिद्धान्त है कि यदि द्रव्यों का दबाव (Pressue) और आयतन (Volume) स्थिर रक्खा जाय तो द्रव्य को ताप देने से उस की घनता (Density) कम हो जाती है अर्थात् द्रव्य विरल हो जाता है। इस विरलता के कारण द्रव्य लघु हो जाता है। तेजस्तत्व घन व द्रव द्रव्यों को अवयवों को फैलाने का गुण रखता है। द्रव्यों के अवयवों की सम्बद्धता

टूट जाती है । इस सम्बद्धता को काटने से ही तेजस्तत्व का द्योतक पित्त द्रव्य तीक्ष्ण है । जब वात श्लैष्मिक ग्रन्थियों को अति मात्रा में संकुचित कर के श्लैष्मिक स्राव को रोक देती है तब पित्त श्लैष्मिक ग्रन्थियों के प्रसार से सकोच को उचित मात्रा में लाकर श्लैष्मिक स्रा॰ को प्रवृत्त कराता है । इस प्रकार वायु जन्य रूक्षता पित्तज:य स्नेह से शान्त होती है। अतः पित्त का स्नेह गुण कहा गया है । यकृत् ग्रंथियों में स्थित पित्त द्रव्य तेजस्तत्व प्रधान है । आंतों में श्लैष्मिक ग्रंथियों से स्राव उत्पन्न करके मल को बाहिर निकालता है इसी लिये सर है, तथा वहां की वात नाड़ियों में चंचलता उत्पन्न कर के आंतों की गति को ठीक र रखता है । पित्त द्रव्य दुर्गन्धित होने से विस्र है और बहने वाला होने से द्रव है।

वातिक और पैत्तिक द्रव्य दोनों गति देते

हैं परन्तु दोनों के प्रधान तत्वों के भेद से इन की गतिओं में भी उसी प्रकार भेद हैं। वात सङ्कोच करती है और पित्त प्रसार करता है और उसी कारण वात शीत है और पित्त उष्ण है, वात रूक्ष गुण है और पित्त स्नेह गुण है;इसी कारण लक्षणों को पहिचान कर वात के बहुत से लक्षणों का प्रतीकार पैत्तिक द्रव्य से और पित्त के बहुत से लक्षणों का प्रतीकार वातिक द्रव्य से हो जाता है।

चरकाचार्य्य ने पित्त के गुण लिखते हुए लघु और विशद गुण नहीं लिखे अम्ल और कटु लिखे हैं। अम्ल और कटु रस के छः भेदों में से दो भेद हैं। अम्ल रस और कटु रस दोनों रस नेन्द्रिय पर लगते ही दाह उत्पन्न करते हैं उसे काटते से हैं। आँख, नाक, मुख से स्राव उत्पन्न करते हैं। इस कारण इन में तेजस्तत्व प्रधान होने से यह शरीर में पित्त क्रिया वर्द्धक हैं। पित्त की अधिकता से

युक्त द्रव्य का पक अम्ल व कटु होता है।

श्लेष्माका लक्षण चरक मुनिने इस प्रकार किया है—

गुरु शीत मृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छलाः।
श्लेष्मण प्रशमं यान्ति बिपरीत गुणागुणः॥

श्लेष्मा जल तत्त्व और पृथिवी तत्त्व प्रधान द्रव्य है। श्लेष्मा में इन्हीं के गुणों की प्रधानता होनी चाहिये। श्लेष्मा के कार्य्य इन तत्वों के कार्य हैं। उन कार्य्यों के अनुसार श्लेष्मा के गुणों का कथन है। उपादान कारण के गुण कार्य्य में उपस्थित होते हैं इस लिये कार्य और कारण में गुण पूर्वक सम्बन्ध देखा जाता है। इसी प्रकार जल और पृथिवी तत्वों और श्लेष्मा में सम्बन्ध दीखता है। जल तत्त्व शीत होने से श्लेष्मा शीत है। पृथिवी गुरु है क्यों कि शक्ति (Energy) के नष्ट (Dissipate) होने से द्रव्य के अवयव जो पहिले विरल होते हैं पार्थिवि अवस्था में संश्लिष्ट हो

आते हैं। अतएव वह पदार्थ जिस में उस के अवयव पूर्व की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट हो जावें गुरु हो जाता है। इसी लिये श्लेष्मा भी गुरु है। श्लैष्मिक द्रव्य रूपान्तर होने में शारीरिक शक्ति का अधिक व्यय करते हैं इसी लिये शरीर में शीतता, स्थिरता और स्थौल्य उत्पन्न करते हैं। जल और पृथिवी तत्व में स्नेह गुण होनेसे श्लेष्मा भी शरीर में स्नेह को उत्पन्न करता है। जल के कारण श्लेष्मा शरीर में मृदुता उत्पन्न करता है। जब श्लेष्मा शरीर में बढ़ जाता है तब वायु के सङ्कोच के कार्य को जीत लेता है और श्लैष्मिक ग्रन्थियां या तो फूल जाती हैं या वायु की सहायता से अनुचित तौर पर श्लेष्मा का स्राव करने लगती हैं। शरीर में अनुपयुक्त अतिरिक्त श्लेष्मा धातु रूप से मल रूप हुआ २ वायु की सहायता से गाढ़ा हो कर स्निग्धता को धारण करता है। जल और
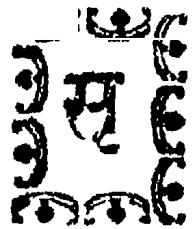
पृथिवी तत्वों का रस मधुर होने से श्लेष्मा भी मधुर समझना चाहिये।

वात पित्त और श्लेष्मा के उपर्युक्त विचार को ध्यान में रख कर इनके सम्बन्ध में कई अन्य विचार प्रकट होते हैं सृष्टि का कोई भौतिक द्रव्य शुद्ध वात, पित्त और श्लेष्मा के रूप में नहीं है। किसी में इनमें से एक की और किसी में अनेक की प्रधानता है। अज्ञान के कारण वा संयम न होने से किसी एक प्रकार के आहार विहार का अति सेवन करने से शरीरों में विषमता और रोग उत्पन्न होते रहते हैं। इस लिये शरीर को स्वस्थ रखने के लिये काल के अनुसार नानाविधि द्रव्यों से संस्कृत पथ्य और भेषज का सेवन किया जाता है। जिस द्रव्य के घटक वात और श्लेष्मा से संयुक्त हैं। वह द्रव्य अतिशीत के कारण आंतों में संकोच पैदा कर के गति को मंद तो कर ही देगा साथ २

श्लेष्मा की अपरि पक्वावस्था से वा पित्त कृत विदाह से आध्मान भी पैदा कर देगा। ऐसे पदार्थ के साथ अन्य कोई ऐसा पदार्थ खाना उचित होगा जो ऊष्मा के कारण आँतों के अति संकोचन को न होने दे और आँतों की गति को उचित रख-हुए आँतों में उत्पन्न दुर्गन्धित वायु (Flatus) को बाहर निकालने में सहायता दे। इसी प्रकार वात पित्त प्रधान द्रव्य रूक्षता और उष्णता उत्पन्न करेगा, इस के कार्य को उचित मात्रा में रखने के लिए श्लेष्मिक द्रव्य से इसे जीतना पड़ेगा क्योंकि श्लेष्मा स्निग्ध तथा शीतहै, वात और पित्त दोनों को शाँत रखने वाला है। इसी प्रकार वात, पित्त श्लेष्मा के परस्पर सम्बन्धों का विचार करके वैद्य को पथ्य और भेषज की कल्पना करनी होती है।

बात पित्त श्लेष्मा के चय कोप और क्षय का ऋतु सम्बन्धी विचार

सृष्टि में वर्तमान ऋतु चक्र का बात पित्त श्लेष्मा पर स्वाभाविक प्रभाव होता रहता है। इससे शरीरों की और द्रव्यों की अवस्था बदलती रहती है। यह परिवर्तन निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है:—

काल चक्र						
	उत्तरायण काल			दक्षिणायन काल		
	शिशर	बसंत	ग्रीष्म	वर्षा	शरद	हेमन्त
चय			वात	पित्त		श्लेष्मा
कोप		श्लै०		बात	पित्त	
क्षय	पित्त		श्लै०			वात

इस कोष्ठक से स्पष्ट है कि ग्रीष्मऋतु में जब कि आदित्य की किरणें अतितीव्र होती हैं, भूमि पर जल शुष्क होजाते हैं, पदार्थ ताप को अपने में जज़्ब करने लगते हैं, तब शरीरों और द्रव्यों में श्लेष्मा का क्षय और वात की वृद्धि होने लगती है। श्लेष्मा के क्षय से स्थूलता और बल का नाश तथा निर्बलता और कृशता का प्रादुर्भाव होता है। यह वात शरीरों में शीतता और रूक्षता का प्रभाव नहीं दिखा सकता, क्योंकि आदित्य का प्रबल तेज इसके संकोचक प्रभाव को रोककर शरीर के अवयवों में प्रसार उत्पन्न करके श्लेष्मा को अत्यन्त द्रुत और स्रवित करता है जिससे शरीरों में स्निग्धता बनी रहती है परंतु स्नेह के अत्यंत व्यय से और ताप के [illegible] से शरीर लघु दुर्बल और कृश [illegible] तथा वात [illegible] २ सुप्त अव-

स्था में रहती है। इस समय लघु शीत और स्निग्ध द्रव्यों का सेवन हित है।

वर्षाकाल के आते ही, जबकि सूर्य्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं, सूर्य्य का ताप क्षीण होजाता है, वातावरण जलसे परिपूर्ण हुआ जल छोड़ने लगता है, शरीरों पर दबाव कम होजाने से तथा शीत से संकोचन क्रिया आरम्भ होजाती है, स्राव बन्द होजाते हैं, शरीर में वायु का वेग ऊर्ध्व होजाता है ग्रीष्मऋतु के प्रभाव से बात हुए पदार्थों का उपभोग प्रारम्भ होजाता है, तब शरीर में कुपित हुई बात अपना प्रभाव दिखाने लगती है। मलस्तम्भ, आध्मान और अग्निमान्द्य की शिकायत सुनाई देने लगती है। शरीर में उत्पन्न हुआ पित्त बाह्य और आभ्यां- तर शीत के प्रभाव से सञ्चित हुआ सुप्त पड़ा रहता है। इस अवस्था में बात को जीतने के लिये

लघु उष्ण स्निग्ध द्रव्यों का सेवन हितकर है। उष्ण वस्ति (Enema) से भी वात को जीतना चाहिए।

जब वर्षा काल बीत जाता है, सूर्यताप से बाह्य शीत के निवृत्त होजाने से और उष्ण पदार्थों के सेवन से वात का प्रभाव मन्द होचुकता है, लघु पदार्थों के सेवन से शरीर पुष्ट नहीं हुए होते तब स्वभावतः पित्त का प्रकोप आरम्भ हो जाता है। इस पित्त को शांत करने के लिए सृष्टि की ओर से वात और श्लेष्मा का संचय नहीं होरहा होता। पित्त प्रकुपित होकर मलों को अच्छी तरह बाहर निकालने का कार्य करता है। बुद्धिमान को उचित है कि उस समय विरेचन से पित्त के कार्य की सहायता करें जिससे शरीर स्वच्छ होजावे। अति भोजन वा गुरु भोजन करके पित्त को लपाने का यत्न न करे। इस प्रकार पित्त शांत न होगा

प्रत्युत वृद्ध और कुपित होकर विदाह, अतिसार, पांडु, कामला, रक्तपित्त आदि अनेक व्याधियां उत्पन्न करेगा। इस समय लघु, शीत सर और स्निग्ध द्रव्यों का सेवन करे।

इस प्रकार पित्त के शांत होजाने से शरीर में वात पित्त श्लेष्मा उचित मात्रा में होजाते हैं, भूख अच्छी लगती है, शरीर स्वस्थ और नीरोग अनुभव होने लगता है। सूर्य की किरणें अति मन्द हो जाती है। शीत अधिक अनुभव होने लगता है। सूर्य के प्रभाव से श्लेष्मा का द्रव होना बन्द हो जाता है। इस प्रकार हेमन्त ऋतु में श्लेष्मा का संचय होने लगता है। शरीर तथा भेषज-द्रव्य गुरु और बलवान होजाते हैं। श्लेष्मा की वृद्धि से वात के अभ्यांतर विकार तो शांत होजाते हैं। परन्तु शीत के प्रभाव से त्वचा शुष्क होने लगती है।

हेमन्त ऋतु के अनन्तर शिशिर ऋतु आती है। हेमन्त और शिशिर ऋतु में सूर्य्य का प्रवेश एक ही होता है अन्तर केवल इतना है कि हेमन्त में शीत बढ़ रहा होता है क्यों कि सूर्य दक्षिणायन की हद पर पहुंच रहा होता है और शिशिर ऋतु में दक्षिणायन की सीमा पर पहुंच कर फिर लौटने लगता है। इन दोनों ऋतुओं के संधिकाल में शीत सबसे अधिक होता है। शिशिर ऋतु में शरीर और वृक्षों की त्वचा अत्यन्त शुष्क होजाने से श्लेष्मा से आर्द्र और स्निग्ध न रहने से झड़ने लगती है, पत्ते गिरने लगते हैं, शरीर पर से बाल झड़ने लगते हैं, साँप अपनी त्वचा (कांचली) छोड़ने लगते हैं। प्रकृति देवी पुराने वस्त्र (वस्त्र-आच्छादने) त्याग कर नवीन वस्त्र ओढ़ने की तय्यारी करने लगती हैं। हेमन्त ऋतु में सञ्चित हुआ श्लेष्मा शिशिर ऋतु में उत्तरायण के आरम्भ

होजाने पर भी सूर्य किरणों के मन्द होने से द्रुत नहीं हुआ होता। श्लेष्मा के शीत प्रभाव से तथा बाह्य शीत [illegible] पित्त के विकार शांत रहते हैं। शिशिर ऋतु [illegible] पूर्व भाग में द्रव्यों का उपचार हेमन्त ऋतु के समान हो कर सकते हैं। शिशिर ऋतु के उत्तर भाग में सूर्य की किरण श्लेष्मा को किञ्चित् द्रुत करने लगती हैं, जिससे धीरे २ श्लेष्मिक विकारों का प्रारम्भ होने लगता है, इस कारण [illegible] २ रूक्ष पदार्थों का सेवन प्रारम्भ कर देना चाहिए।

वसन्त ऋतु में श्लेष्मा द्रुत होकर नाना प्रकार के श्लैष्मिक विकारों को प्रगट करती है। इस समय प्रकृति की ओर से श्लेष्मा के विकारों को रोकने के लिए किसी का संचय नहीं होता। वातिज पदार्थों के सेवन से रूक्षता लाभ करने का प्रयत्न किया जाता है। वातिज

पदार्थों के उपभोग करते करते ग्रीष्मऋतु में बात संचित और श्लेष्मा क्षय होजाता है बसन्तऋतु में उचित है कि श्लेष्मा के कष्ट को निवारण करने के लिए बातज द्रव्यों से वमन करके शोधन कर लिया जाय।

इस प्रकार पता लगता है कि ऋतु चक्र हमारे शरीरों और द्रव्यों पर बात पित्त श्लेष्मा के चय कोप और क्षय से स्वभाविक प्रभाव डालता है। इस प्रभाव को जांच किए बिना स्वस्थ वृत्त का पालन और व्याधि चिकित्सा उत्तम फलप्रद नहीं होते हैं। अभीष्ट लाभ को प्राप्त करने के लिए "बात पित्त श्लेष्मा के चय कोप क्षय पर ऋतु चक्र का प्रभाव" सम्बंधि दार्शनिक विचार करना आवश्यक होता है।

भिन्न२ प्रदेशों में उत्पन्न द्रव्यों का शीतोष्ण संबंध विचार ।

पृथ्वी सूर्य्य के गिर्द घूमती है । पृथ्वी की उत्तर दक्षिण दिशा स्थिर रहती है। पृथ्वी अपने इर्द गिर्द एक कल्पित अक्ष पर घूमती है। दक्षिणीय और उत्तरीय ध्रुवतारों को मिलाने वाली रेखा पर जब पृथ्वी आती है तो उसका अक्ष उत्तरीय और दक्षिणी । ध्रुवतारों की सीध में होता है। पृथ्वी का अक्ष और ध्रुवतारों को मिलाने वाली रेखा में से गुजरते हुए धरातल (Plane) में पृथ्वी का अक्ष रहता है। पृथ्वी की प्रत्येक स्थिति में अक्ष की स्थितियां परस्पर समानांतर रहती हैं। ये समानांतर रेखायें अतिदूर ध्रुवतारों पर मिलती हुई प्रतीत होती हैं। इसलिए पृथ्वी की उत्तर दक्षिण दिशायें सर्वदा स्थिर रहती हैं। इसी के अनुसार दक्षिण ,और

काम और पूर्व और पश्चिम दिशायें स्थिर हैं। पृथ्वी उत्तर-पश्चिम-दक्षिण-पूर्व इस क्रम में सूर्य के गिर्द घूमती है। जैसे २ पृथ्वी उत्तर से दक्षिण की ओर जाती है वैसे २ पृथ्वी का उत्तरीय ध्रुव सूर्य के सन्मुख होता जाता है और जैसे २ दक्षिण से उत्तर की ओर जाती है वैसे२ पृथ्वी का दक्षिणीय ध्रुव सूर्य के सन्मुख होता जाता है। जब पृथ्वी दक्षिणकी ओर जारही हो तो उत्तरायण काल होता है और जब उत्तरकी ओर जारही हो तो दक्षिणायन काल होता है। इस प्रकार उत्तरायण काल की तीन और दक्षिणायन काल की तीन ऋतुयें बन ती हैं। भूमध्य रेखा पर जो प्रदेश हैं उनका दक्षिणायन और उत्तरायण काल तुल्य होता है। भूमध्य रेखा से जो देश जितना २ उत्तरीय ध्रुव की ओर है उनका उत्तरायण काल उतना २ लंबा और दक्षिणायन काल

दीर्घ तथा जो देश जितना २ दक्षिणीय ध्रुव की ओर हैं उनका दक्षिणायन काल उतना २ लघु और उत्तरायण काल दीर्घ होता है। जिस जिस प्रदेश पर जितना २ अधिक सूर्य्य रहता है औषधियां उतनी अधिक गर्म और रूक्ष होती हैं और जित-ना २ कम सूर्य्य रहता है उतनी उतनी कम गर्म वा शीत और रूक्ष औषधियां होती हैं। सूर्य की इस गति को ध्यान में रख कर भूगोल के पांच हिस्से कर दिये हैं भूमध्य रेखा से तीन हिस्से ऊपर हैं और तीन नीचे हैं। भूमध्य रेखा के साथ लगने वाले दोनों हिस्से मिला कर एक समझे जांय तो पांच हिस्से इस प्रकार बनते हैं।

उष्ण कटिबन्ध उत्तरीय शीतोष्ण कटिब' दाक्षिणीय शीतोष्ण कटिबन्ध, उत्तरीय शी कटिबंध, दक्षिणीय शीत कटिबंध।

पदार्थों को शीतता, उष्णता और रूक्षता
ादि पर पर्वत और समुद्र का भी असर पड़ता
है। पर्वत प्रदेश शीत हैं और उनपर जल भी नहीं
ठहर सकता बहजाता है अतः ऊंचे पर्वतों की
औषधियां शीत और रूक्ष होनी चाहिए श्लेष्म-
वर्द्धक नहीं होनी चाहिए। वहां के मनुष्य भी
पतले छोटे मेहनती फुर्तीले और रूखे स्वभाव
के होने चाहिए जो पर्वत जलसे परिपूर्ण हैं।
जिनसे १२ मास नदियां बहती रहती हैं उनमें
जल के कारण शीत स्निग्ध बात विकार नाशक
बल्य वृष्य औषधियां होनी चाहिए। वहां के
मनुष्य समान्य पर्वतियों से अतिरिक्त स्निग्ध,
कोमल, निष्कपटी मधुर स्वभाव के होने चाहिए
जो प्रदेश समुद्र के किनारे हैं वहां जलकी
प्रधानता से औषधियां स्निग्ध होंगी, उष्ण
कटिबन्ध में वे उष्ण स्निग्ध और शीतोष्ण वा

शीत कटिबन्ध में शीतस्निग्ध होंगी। ऐसे स्थान के मनुष्य भी बहुत परिश्रमी नहीं होंगे, मोटे होंगे सुस्त होंगे, धनी होंगे, इनको श्लेष्मा के रोग अधिक होंगे। जो प्रदेश समुद्र के समीप नहीं है मैदान हैं वहाँ की औषधियाँ रूक्ष होंगी शीतोष्ण या शीत कटिबन्ध में शीत और उष्ण कटिबन्ध में उष्ण होंगी।

भारत वर्ष में उत्तरीय भारत शीतोष्ण कटिबन्ध में है और दक्षिणीय भारत उष्ण कटिबन्ध में है। उत्तरीय और दक्षिणीय भारत की सीमा विन्ध्य पर्वत है। विन्ध्य पर्वत कर्क रेखा के दक्षिण की ओर कर्क रेखा के किनारे पर है। उत्तरीय भारत की उत्तर दिशा में हिमालय की श्रेणी है हिमालय इतना ऊंचा है कि इसमें भूमध्य रेखा से ध्रुव तक ताप मान का जितना भेद है सब मिलजाता है। कहा है:—

In ascending the nimalaya Mountains the same ranges of temperature are experienced as in proceeding from the Equator to the Pole.

Longmans, geographical series for India

Book II. The World.

हिमालय पर्वत जलसे परिपूर्ण है। इससे १२ मास बहने वाली नदियां उत्तर से दक्षिण-उत्तर को बहने वाली और दक्षिण-पश्चिम को बहने वाली नदियाँ अनेक निकलती हैं। वाष्प परिपूर्ण वायु पूर्व दिशा से उठी हुई हिमालय के पूर्वीय किनारेसे पश्चिम किनारे की ओर चलती जाती हैं, इस लिये पूर्वीय किनारेपर अधिक वर्षा होती है और पश्चिम किनारे की तरफ कम होती जाती है। हिमालय के

दक्षिणीय पार्श्वपर अधिक वर्षा होतीहै और उत्त-रीयपार्श्वपर कम होती है।उत्तरीय पार्श्व दक्षिणीय पार्श्व की अपेक्षा अधिकगर्म है।

इन सब उपर्युक्त बिचारों को ध्यान में रखकर हिमालय की औषधियां जल प्रधान होने से सौम्य हैं, स्निग्धहैं, बल्यहैं, वृष्यहैं. ।विन्ध्य पर्वत की औषधियां उष्णहैं आग्नेयहैं। साधारणतः भार-तवर्ष में ऊपर सौम्य, शीत गुण प्रधान औषधि हैं और नीचे २ आते हुए आग्नेय, उष्ण गुण होती जाती हैं। हिमालयपर्वत में रूक्ष, स्निग्ध, अत्यन्त शीत और अत्यन्त उष्ण सब प्रकार की ऋतु (Climate)मिलनेसे वहां सब प्रकारकी औषधियां प्राप्त होसकती हैं ॥

—वातपित्त श्लेष्मा का भेद निरूपण—

चरक संहिता में वायु के पांच भेद किये हैं

" वायुः प्राणोदान समान व्यानापानात्मा । "

वायु की पांच प्रकार की गति उपर्युक्त वायु के भेदों में बताई है। श्वसन (Inhalation) और निश्वसन (Exhalation) को प्राणन क्रिया कहते हैं। शरीर पर बाहर के वायु मण्डल का दबाव पड़ता है। जब फुफ्फुस संकुचित अवस्था में होते हैं तो खाली होने से अन्दर दवाब कम और बाहर अधिक होता है, इस लिये बाहर से वायु नासिका छिद्रों द्वारा फुफ्फुस में घुसती है। इस क्रिया को श्वसन या (Inhalation) कहते हैं। भीतर गई हुई वायु में कर्बनिकाम्लगैस (Cor) तथा जल वाष्प मिल जाने से बाहर की वायु के दबाव की अपेक्षा भीतर की वायु का दबाव बढ़ जाता है, इस लिये भीतर से वायु बाहर को आ-

जाती है । श्वसन क्रिया में Diaph ragm) वक्षः कोष्ठ मध्यवर्ति पेशी नीचे को दबजाती है। (Diaphragm) के नीचे को दबने से कोष्ठगत अवयव नीचे को दबते हैं और पेट फूलता मालूम होता है। Diaphragm नीचे को दबकर फिर पीछे को लौटता है तब फुफ्फुसों को दबाकर भीतर की वायु को बाहर धकेलता है। इस प्रकार श्वसन और निश्वसन सम्बन्धी प्राणन क्रिया होती रहती है। बाह्य वायु जिस समय सूर्य की उष्मा से तप्त होकर हलकी होजाती है वा वाष्प से पूर्ण होकर हलकी होजाती है तो उसका दबाव कम होजाता है। कोष्ठ के पूर्ण होने से वा आँतों में वायु (Latus) वा मल के भरजाने से Diaphragm में गति क्रिया नहीं होसकती, अतः फुफ्फुस की वायु

और बाहर की वायु में दबाब की समता के लिये फुफ्फुस की वायु जितनी पहले बाहर जाती थी उसकी अपेक्षा अधिक बाहर जाने लगेगी । इस प्रकार प्राण की ऊर्ध्व गति होनेसे प्राण वायु कुपित कहाती है ।

उदान वायु से गीत भाषण आदि कार्य होतेहैं (Larynx) स्वर यन्त्र इसका मुख्य स्थान है । स्वर यंत्र शोथ होने से मलों के अति स्राव या अस्राव से श्लेष्मा से कंठ के आवृत होजाने से उदान वायु कुपित होजाता है । स्वर यन्त्रकी पेशियों में लचक नहीं रहती कठोर, रूक्ष या शिथिल होजाती है । यथा विधि उपचार से उदानवायु कार्य्य कारी होजाता है ।

समान वायु का कर्म आत्मी करण (assimilation) है । वह चेष्टा जो भोजन

के साथ पित्त को मिलाकर अवयवों को विश्लिष्ठ करके भोजन के रस को रक्त में पहुंचाती है समान वायु है। समान वायु के कुपित होजानेसेअजीर्ण अतिसार, मलबंध, प्रवाहिका आदि रोग उत्पन्न होजाते है।

किसी धातु, को धात्वन्तर में परिणत करना, यथा स्थान धातु को पहुंचाना व्यान वायु का कर्म है। इस व्यान वायु के कुपित होने से धातुओं का बनना रुकजाता है।

शरीर में external and internal secretion का कार्य अपान वायु का है। अपान वायु के कुपित होने से ग्रंथियों के कार्य मंद पड़जाते हैं शरीर का पोषण तथा शोधन मंद पड़जाते हैं। इस प्रकार वायु पंचधाविभक्त होकर तथा अनेक उपभेदों में विभक्त होकर शरीरको धारण कर रहाहै।

इसी प्रकार पित्त के भी पाचक, रंजक, साधक आलोचक, भ्राजक पांच गुण भेद हैं। आमाशय में गया हुआ अन्न आमाशयस्थ पाचक रस उदहरिकाम्ल Hcl से अम्लयुक्त होकर समान वायु के क्रम से ग्रहणी नाड़ी में गया हुआ अम्लीय प्रति क्रिया से यकृत (liver) और क्लोम (pancreas) से पाचक पित्त को खींचता है। यह पाचक पित्त भुक्त द्रव्य का पाक करता है। रस दोष, मूत्र और पुरीष का विभाग करता है। अन्न रस रस वहा नाड़ी (Portal vein) के द्वारा यकृत में पहुंचता है यकृत और प्लीहा में (Hoemoglogim) रंजक पित्त तैयार होता है। इस रञ्जक पित्त से अन्न रस रञ्जित होकर महती अधः शिरा (Inferior venacava) द्वारा हृदय

में पहुंचता है। हृदय में Pulmonary vein द्वारा फु-
फ्फुसमें पहुंचकर फिर Pulmonary artery द्वारा
हृदय में आजाता है। रञ्जक पित्त फुफ्फुस में
बाह्य वायु से प्रविष्ट हुए ओषजन (oxygen)
से मिलकर oxyhaemoglobin बनजाता है।
इसको रुधिर के श्वेतकण (white corpuscles)
चूसकर लाल कण बनजाते हैं। फुफ्फुस में
वर्तमान यह ओषजन साधकपित्त है, क्योंकि
रुधिर के कणों के साथ मिलकर शरीर में घूम
जाती हैं और अभिष्ट मनोरथ को सिद्ध करती है।
यह रक्त चक्षु में गया हुआ चक्षु के ताल (Lens) की
पारदर्शकता को रखता है। ताल की पारदर्शकता
को रखने वाला पित्त आलोचक पित्त कहाता है।

शरीर में रक्त संचार से फैला हुआ
साधक पित्त त्वचा में आकर त्वचा को उष्ण

रखता है। त्वचा पर लगाये हुये द्रव्यों को सुखाता है। त्वचा की कांति को रखने वाली त्वग्ग्रंथियों के स्रावों को बनाता है। त्वचा की कांति रखने वाला त्वग्ग्रंथियों का स्राव भ्राजक पित्त है।

इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में श्लेष्मा के क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन, और श्लेषण पांच भेद किये हैं। आमाशय में प्रविष्ट हुये अन्न हर वर्षा के समान आमाशय की भित्ति से श्लेष्मा का स्राव होता है। इस श्लेष्मा की प्रतिक्रिया से ग्रहणी में से भी आमाशय में पाचक रस पहुंचता है। ग्रहणी का और आमाशय का रस मिलकर उदासीन होजाते हैं, अम्ल या क्षार में नही रहते। यह मधुर रस अन्न के साथ मिलकर अन्न को मधुर और क्लिन्न करता है क्लिन्न करने के कारण ही क्लेदक श्लेष्मा कहाता है।

अन्न रस का कुछ श्लैष्मिक भाग लसी का वाहिनियां (Lymphtaic खेंच लेती है। वह-भाग (Lymphatic chanal) के द्वारा वामजत्रु अस्थि और वक्षोस्थि की संधिके पास अनमिका शिश (Innominate vein) में पहुंचता है। फिर फुफ्फुस में प्रविष्ठ होकर उदक कर्म से उरस्थताप और घर्षण को उचित मात्रा में रखता है। इस प्रकार उरःस्थ श्लेष्मक ग्रंथियों को पूरण करता है। यह उरः स्थ श्लेष्मा फुफ्फुस हृदय और फुफ्फुसावर्णी कला और हृदयावर्णी कला को अवलम्बन करता है इस लिये अवलम्बन श्लेष्मा कहलाता है। जब जिह्वा सूख जाती है, फट जाती है और खुर्दरी हो जाती है तब रस का ज्ञान ठीक नहीं कर सकती। लाला ग्रन्थियां (Salivary Glands) श्लेष्मा का मुख कर के जिह्वा को आर्द्र रखती है। और रस ग्रहण में

समर्थ करती है। यह श्लेष्मा रसन है इस की कमी को पूर्ति रक्तस्थ श्लेष्मिक द्रव से होती है। रक्त संचार के द्वारा शिर में गया हुआ श्लेष्मा इन्द्रियों (Nerves) को संतर्पण करता है, सींचता है इस लिये स्नेहन कहलाता है। संधियों में स्थित श्लेष्मा संधियों को जोड़ता है इस लिये श्लेषण कहाता है। जब यह न हो वह कम हो तो संधिया सख्त, रूखी, सूखी हो जाती हैं उनमें गति नहीं हो सकती।

यह दोषों का भेद निरूपण लेख के अति विस्तार के भय से संक्षेप में ही समाप्त किया है।

आयुर्वेद के साथ षट् दर्शनों के दार्शनिक विचारों की तुलना

धर्म्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम् ।
रोगास्त स्यापहर्त्तार भयसो जीवितस्य च ।

आयु: कामय मानेन धर्म्मार्थ सुख साधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशषु विधेय: परमादर: ॥

इस कथन के अनुसार धर्म, अर्थ औ सुख का साधन आयु है। आयु बिना आरोग्य के नहीं रह सकती। रोग आयु को हरते हैं। इस लिये आयुर्वेद की सहायता से स्वास्थ्य रक्षा और रोग चिकित्सा करनी चाहिये। जिस मनुष्य ने आयुर्वेद की आज्ञाओं का पालन करके अपनी आयु की रक्षा की और अपने को दीर्घ जीवी बनाया, उस मनुष्य को अपनी स्थिति उत्तम बनाने के लिये धन की कामना भी करनी होती है। बिना धन के दरिद्रतामय जीवन पाप मय जीवन है। यदि इस जन्म के अनन्तर कोई और जन्म नहीं होना और पहले भी जन्म नहीं था तो दीर्घायु और वित्तोपा-

जैन के लिये प्रयास व्यर्थ हैं क्यों कि जितना ही शीघ्र जीवन समाप्त हो जाय उतना ही अच्छा है। इस लिये यह संशय हुआ कि पुर्न जन्म होता है व नहीं। च०सू०अ० ११ में सत् और असत् के विषय की परीक्षा आप्तो पदेश प्रत्यक्ष अनुमान और युक्ति इन चार प्रमाणों से करनी लिखो है। न्याय दर्शन में " प्रत्यक्षानुमानोममान शब्दाः प्रमाणानि., के अनुसर चार प्रमाण माने हैं। शब्द का लक्षण " आप्तोपदेशः शब्दः " लिखा है। जिन्होंने धर्म को साक्षात्कार लिया है जिन्हें सशय नहीं है उन ऋषियों को आप्त कहते हैं। उनका कथन सर्वदा सत्य ही होता है। च०सू०अ० ११ में कहा है।

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता स्तयो ज्ञानबलेनैय।
मैषां त्रिकाल ममलं ज्ञान नव्याहतं सदा।

आप्तः शिष्ट विबुद्धास्ते तेषां ज्ञानमसंशयम् ।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीर जस्तमाः ॥

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण " इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान मव्य पदेशम व्यभिचारि व्यवस्सायात्मकं प्रत्यक्षम् ,, किया है। और च०सू०अ० ११ में इस प्रकार किया है।

आत्मेन्द्रिय मनोरथानां संन्नि कर्षात्प्रवर्त्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षा सा निरुच्यते ॥

अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि, और व्यवसायात्मक का भाव चरक ने व्यक्त शब्द से लिया है।

अनुमान का निरूपण चरक और न्याय दर्शन में एक जैसा है।

चरकाचार्य्य ने युक्ति शब्द न्याय दर्शन के लिये अच्छा चुना है। उपमान का लक्षण है—" प्रसिद्ध साधर्म्यात्साध्य साधनमुपमानम् "। समानो धर्मो येषां ते सधर्म्माणः तेषां भाव साधर्म्यम्। जिस बस्तुओं का एक ही आधार है अर्थात् मिल कर उसको बना रही है। उनके इस प्रसिद्ध भाव से साध्य का सिद्ध करना उपमान कहाता है। गो और गवय में जो प्रसिद्ध समान धर्म है जिसमें गो और गवय दोनों इकट्ठे है उसको लेकर साध्य गवय को सिद्ध करना उपमान कहाता है। च०सू० अ० ११ में युक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है।

बुद्धि पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्ति स्त्रिकाला साज्ञेया त्रिवर्ग स्साध्यते यया॥

युक्ति उस बुद्धि को कहते है जो बहुत कारणों के मेल से उत्पन्न भावों को देखती है। इन प्रमाणों से च सू० अ० ११ मे पुन जन्म की अच्छी प्रकार परीक्षा की है।

चरक संहिता मे सत् असत् की परीक्षा के लिये जिस प्रकार प्रमाण नियत किये है। सुश्रुत संहिता अ० अर्द्ध ५ में बत्तीस तन्त्रयुक्त वर्णन की। जिनसे परीक्षा की जाती है या वाक्य और अर्थों की योजना की जाती है। इन तन्त्र युक्तियों से प्रतिपक्षी के कथन का प्रतिषेध और अपने कथन की सिद्धि की जाती है। जो विषय शास्त्र में स्पष्ट है या नहीं कहे या अस्पष्ट हैं गूढ़ हैं व बीज रूप से कह दिये हैं उन सब जानने योग्य विषयों के प्रकाश करने के लिये ३२ तन्त्र युक्तियां हैं। यथा——

अधिकरण, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, प्रदेश, अतिदेश अपवर्ग, वाक्य शेष, अर्थापत्ति, विपर्य्यय, प्रसंग, एकांत, अनेकांत पूर्वपक्ष, निर्णय, अनुमत, विधान, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, संशय, व्याख्यान, स्वसंज्ञा, निर्वचन, निदर्शन, विकल्प, समुच्चय, उह्य।

च०वि०अ० ८ में वाद (बहस) कैसे करनी चाहिये यह अच्छी प्रकार दिखाया है। इसमें ५० पदों और १० प्रकरणों का कथन है। इनसे परीक्ष्य की परीक्षा की जाती है। जिनमें चारों प्रमाण भी आगये हैं। यथा वाद, द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्यं, विशेषः, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, उपनय, निगमनम्, उत्तरम्, दृष्टान्त

सिद्धांतः, शब्दः, प्रत्यक्षम्, औपम्यम्, ऐतिह्यम्, अनुमानम्, संशय, प्रयोजनम्, सव्य भिचारम्, जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थ प्राप्ति, संभवः, अनुयोज्यम्, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, वाक्य न्यूनता, वाक्या धिक्यम् अनर्थकः, अपार्थकः बिरुद्धः, वाक्य प्रशंसा, वाकछलम्, समान्य छलम्, प्रकरण समः संशयसमः, वर्ण्यसमः, अनीत कालम्, उपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञा हानिः, अभ नुज्ञा हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निग्रह स्थानम्। ये ५० पद हैं।

कारण, करण, कार्य्ययोनि, कार्य्य, कार्य्य फल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति, ये दस प्रकरण, हैं।

इस परीक्षा में विशेष करके चरका चार्य्योक्त परीक्षा में न्याय दर्शन के १५ पदार्थ और गौ-

शेषिक दर्शन के छः पदार्थ पूर्णतया सम्मिलित हैं। चरक संहिता का प्रमेय निरूपण न्याय दर्शन से विशेषतया और कुछ वैशेषिक से मिलता है।

च०सू०अ० १ में आयु का लक्षण करते हैं।

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारिजीवितम।
नित्यगश्चनुबन्धश्च पर्य्याय मेंरायुरुच्यते॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्माका संयोग उचित अवस्था में दीर्घ काल तक बना रहे इसी लिये चिकित्सा शास्त्र की प्रवृत्ति है।

इसी स्थान में वैशेशिक कोल द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय इन पदार्थों का

निरूपण है। ये द्रव्य रोग, भेषज और चिकित्सा कर्म का आश्रय होने और प्रमाणों करके परीक्ष्य होने से अभेद हैं।

च० सू० अ० २५ में द्रव्य दो प्रकार के बताये हैं—एक चेतन, दूसरे जड़। ये पांच भूत हैं इनके २० गुण हैं। यथा—

गुरु लघु शीत उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर; सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल,

श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव।

पांच कर्म हैं—वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, वस्ति।

द्रव्य अपने प्रभाव से अथवा अपने गुण के प्रभाव से अथवा दोनों के प्रभाव से उचित ह
, था।

पर उस २ अधिष्ठान और उस २ योग को प्राप्त करके जो २ कार्य्य करते हैं उस २ कार्य को कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा उस कार्य्य का सम्पादन होता है उसे वीर्य कहते हैं। जिस समय वह कार्य किया जाता है। उसे काल कहते हैं। जिस तरह किया जाता है उसे उपाय कहते हैं और उस कर्म के द्वारा जो प्रयोजन सिद्ध होता है उसे फल कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कार्म, के साथ आयुर्वेद में वीर्य, काल, उपाय और फल ये पदार्थ भी माने गये हैं।

आयुर्वेद में द्रव्यों के २० गुण उनके कार्य्य की दृष्टि से माने गये हैं, परन्तु इनके साथ १० गुण और भी माने गये हैं जो चिकित्सा की सफलता के उपाय हैं। वे इस प्रकार हैं—
कर्म, साम.

पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, पृथक्त्व, परिणाम, संस्कार, अभ्यास। इनके बिना चिकित्सा ठीक नहीं चलती।

चिकित्सा बहुत कुछ भूतों से उत्पन्न रसों को ध्यान में रख कर होती है। इस लिये द्रव्यादि छः पदार्थों के अतिरिक्त छः रस द्रव्यों के आश्रित स्वीकार किये हैं। भिन्न २ रस वाले द्रव्य शरीर में पकते हुए उसी रस वाले द्रव्य शरीर में पकते हुए उसी रस वाले नहीं रहते जो उनका रस पहिले होता है। पाकके अनन्तर जो रस उत्पन्न होताहै उसको विपाक कहतेहैं। इस विपाकको भी स्वीकार करना पड़ा क्यों कि इसके अनुसार द्रव्य का प्रभाव शरीर पर देखा जाता है। परन्तु बहुत से द्रव्य ऐसे हैं जिनका प्रभाव गुण, रस, वीर्य

पाक किसी के अनुसार कल्पना नहीं किया जा सकता, अतः उन द्रव्यों का विचित्र प्रभाव पदार्थ की भी कल्पना करनी पड़ी। क्यों कि जैसे चीता (चित्रक) और दन्ती दोनों रस और पाक में कटु हैं, उष्ण वीर्य हैं। परन्तु दन्ती प्रभाव से रेचन करती है चित्रक नहीं।

सामान्य और विशेष पदार्थ भी चरक ने स्वीकार किये हैं।। सामान्य वृद्धि का कारण है और विशेष ह्रास का कारण है क्यों कि सामान्य एकता वा मिलाप को करने वाला है और विशेष भेद डालने वाला है।

वात पित्त श्लेष्मा और पञ्च भूतों का सम्बन्ध, तो दिखाया ही जा चुका है। परन्तु आयु-

पञ्च महा भूतों के विचार तक ही नहीं रह गया, साख्यसिद्धांत के अनुसार मूल प्रकृति तक पहुंचा है। सुश्रुत शरीर स्थान अध्याय १ में सांख्य के २५ तत्वों का विस्तृत निरूपण किया है। इसी में प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य वैधर्म्य निरूपण किया है। पुरुष, प्रकृति दोनों को सर्वाङ्गत कहा है। पुरुष अर्थात् जीवात्मा सर्वगत होते हुए भी अनेक स्वीकार किये हैं। परन्तु कर्म पुरुष जो पंच महाभूत शरीरि समवाय माना है वह असर्वगत है नित्य है इस कर्म पुरुष के १६ गुण कहे हैं।

सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान ,उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन, संकल्प, विचारणा स्मृति; अध्यवसाय, विषभोग, लब्धि।

यह कर्म पुरुष पुण्य कर्मों के प्रभाव से वेदनाओं को दूर करता है। आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थों के सन्निकर्ष से वेदना उत्पन्न होती है। जब मन बिना किसी कार्य की प्रवृत्ति के आत्मा में स्थिति हो जाता है तब सुख दुःख दोनों की निवृत्ति हो जाती है। योगियों का अनुबल प्राप्त होता है। तब रज और तम के अभाव से, बलवान कर्मों के क्षय हो जाने से मोक्ष मिलता है, इसी को कर्म संयोग का छूटना वा अपुनर्भाव कहते हैं।

मोक्षो रजस्तमोऽभावा द्बलवपूत्कर्म संक्षयान।
वियोगः कर्म संयोगै रपुनर्भाव उच्यते ॥

इससे परे भूतात्मा ब्रह्म में मिल जाता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती। सम्पूर्ण भावों से दूर

होने पर उसका कोई विशेष चिन्ह नहीं रहता। ब्रह्म वेताओं की गति ब्रह्म है, न वह नाश को प्राप्त होती है और न उसका कोई लक्षण है। ब्रह्मवेताओं के ज्ञान को अज्ञ लोग नहीं जान सकते।

अतः परं ब्रह्म भूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसतः सर्व भावेभ्यः चिन्हं यस्य नविद्यते।
गति र्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्म विदांश्चान्न नाज्ञस्तज्ज्ञातु मर्हति॥

यह वेदांत दर्शन के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा में लय माना है। वेदांत दर्शन एक आत्मा—सर्वगत कारण शरीरोपाधि से सुख दुःखादिका देखने वाला है। परन्तु आयुर्वेद में अनेक जीवात्मा सर्वगत माने हैं। यहां वेदांत से आयुर्वेद का मत भेद है॥

—उपसंहार—

इस प्रकार आयुर्वेद जीवन रक्षा और दीर्घजीवन के उपायों को बताता हुआ मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बना कर संसारसे मुक्ति दिलाताहै प्रवृत्ति मार्गका निरूपणभी इसमें निवृत्तिमार्ग केलिये है

इस प्रकार आयुर्वेद के दार्शनिकतत्व को उन्नत और दृढ़ किया जाय तो किसी विदेशीय व एतद्देशीय चिकित्सक की हिम्मत नहीं पड़ सकती कि आयुर्वेद के लिये कोई अपमान जनक शब्द भी बोले । इस लिये आयुर्वेद की पताका को संसार में उज्वल करने के लिये अपने आप को वैद्य कहलाने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि आयुर्वेद के दार्शनिक तत्व को उज्वल करके विदेशीयों के सामने रक्खे । इससे सर्वत्र भूगोल में आयुर्वेद की जय मनाई जावेगी ॥